ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

समकालीन कहानी में हाशिए का समाज और दुरभिसंधिया

Dr. Sudhir Soni

Associate Professor, Dept. of Hindi, Government PG College, Malpura, Tonk, Rajasthan, India

सार

हाशिए का समाज' से तात्पर्य उस वर्ग से है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और कानूनी तौर पर अथवा अन्य किसी भी रूप में वंचना एवं वर्जनाओं का शिकार है। सामाजिक स्तर पर इन वंचना एवं वर्जनाओं को प्रश्रय देने वाले अनेक कारक उत्तरदायी हैं; उदाहरणार्थ - सामाजिक रीति-रिवाज, कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ एवं प्रथाएँ, विश्वास, धार्मिक मान्यतायें आदि। सभी सामाजिक विद्रूपताओं का गहन अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इन विद्रूपताओं की जड़ में है - शैक्षिक वंचना और उसमें निहित भाषागत अपरिष्कृतता। भाषा शिक्षा के सम्प्रेषण का महत्वपूर्ण माध्यम है। अतः भाषायी वंचना का अर्थ है - शैक्षिक वंचना। इसीलिए शिक्षा की राजनीति करने वाले भाषायी राजनीति करने लगते हैं। समस्त सामाजिक कुरीतियों की जननी अशिक्षा ही है, अतः इनके संहार हेतु शिक्षा के उन्नयन का समावेश एवं उचित भाषायी प्रावधान आवश्यक है।

शिक्षा को समाजीकरण की सशक्त प्रक्रिया कहा जाता है। सामाजिक उपबन्धों को समझना और उनसे सामंजस्य स्थापित करने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है। इन सभी सामाजिक उपबन्धों का प्रतिभाषीकरण व्यवहारों में सम्पन्न होता है। इन व्यवहारों के व्यवहृतीकरण हेतु भाषा उत्तरदायी होती है। इसलिए सामाजिक उपबन्धों को समझने के लिए सामाजिक भाषा में उनका प्रस्तुतीकरण अनिवार्य माना जाता है, जो कि साहित्यिक या राजकीय भाषा से बहुधा भिन्न हो सकती है। वर्तमान युग ज्ञान का युग कहा जाता है। आज के युग में ज्ञान आधारीय अर्थव्यवस्था का बोलबाला है। वर्तमान में ज्ञान शून्य व्यक्ति को हाशिए के समाज में वर्गीकृत किया जाता है। आज कई ऐसी भाषायी चुनौतियाँ हैं जो हाशिए के लोगों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि कर रही हैं और परोक्ष रूप में संधारणीय विकास को प्रभावित कर रही हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में इन सभी भाषायी चुनौतियों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है जो हाशिए के लोगों और सम्पूर्ण मानव समाज को प्रभावित करती हैं।

बीज शब्द : हाशिए का समाज, भाषा, शिक्षा, भाषायी चुनौतियाँ।

परिचय

'हाशिए का समाज' से तात्पर्य एक ऐसे वर्ग से होता है जो किसी न किसी रूप में वंचना एवं वर्चजनाओं का शिकार है। यह वंचना सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, कानूनी, भाषायी, जेंडर या जाति आधारित किसी भी प्रकार की हो सकती है। एक देश, राष्ट्र या समाज तभी विकसित बन सकता है जब वहाँ के सभी निवासी मुख्यधारा में अपना योगदान दे सकें। किसी समाज में ज्यादातर लोगों का विभिन्न कारणों से हाशिए पर चले जाना, एक ऐसे समाज का द्योतक है जहाँ सत्ता पर कुछ वर्चस्ववादी लोगों का कब्जा होता है और जो नीतियों के निर्धारण में अपना एवं समकक्ष समाज का विकास अधिक और सम्पूर्ण समाज के बहुमुखी विकास की ओर न्यूनतम उन्मुखता रखते हैं। इस दोहरेपन की मानसिकता के कारण समाज कभी भी विकास नहीं कर सकता है। अनुभव यह भी बताते हैं कि ये वर्चस्ववादी नीतिकार विभिन्न तरीकों से समाज पर कब्जा बनाये रखने के अपेक्षित प्रयासों में मशगूल रहते हैं और इनके द्वारा बनायी गयी नीतियाँ हाथी दाँत के समान होती हैं। इनकी असली नीतियाँ तो

ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

हाथी के असली दाँत होते हैं जो छिपे रहते है। शिक्षा को मानव के सम्पूर्ण विकास का साधन माना जाता है। यह विकास भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक किसी भी रूप में हो सकता है। 'सा विद्या या विमुक्तये.....' शिक्षा मनुष्य के हाथ में एक ऐसा हथियार है, जिससे वांछित उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। शिक्षा के प्रकटीकरण का साधन होती है- भाषा। भाषा और शिक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा, भाषा के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है।[1]

दुरभिसंधि मेरी अस्मिता दौड़ती रही, दौड़ती रही। नियति की अँगुली पकड़कर आगे बढ़ती गई-उस क्षितिज की ओर, जहाँ धरती और आकाश मिलते हैं। नियति भी मुझे उसी ओर संकेत करती रही; पर मुझे आज तक वह स्थान नहीं मिला और शायद नहीं मिलेगा।फिर भी मैं दौड़ता रहूँगा; क्योंकि यही मेरा कर्म है। मैंने युद्ध में मोहग्रस्त अर्जुन से ही यह नहीं कहा था, अपितु जीवन में बारबार स्वयं से भी कहता रहा हूँ-'कर्मण्येवाधिकास्ते'। वस्तुतः क्षितिज मेरा गंजव्य नहीं, मेरे गंजव्य का आदर्श है। आदर्श कभी पाया नहीं जाता। यदि पा लिया गया तो वह आदर्श नहीं। इसीलिए न पाने की निि‍श्ं‍चतता के साथ भी कर्म में अटल आस्था ही मुझे दौड़ाए लि‍ये जा रही है। यही मेरे जीवन की कला है। इसे लोग 'लीला' भी कह सकते हैं; क्योंकि वे मुझे भगवान् मानते हैं। और भगवान का कर्म ही तो लीला है। कृष्ण के अनगिनत आयाम हैं। दूसरे उपन्यासों में कृष्ण के किसी विशिष्ट आयाम को लि‍या गया है। किंतु आठ खंडों में विभक्त इस औपन्यासिक श्रृंखला 'कृष्ण की आत्मकथा' में कृष्ण को उनकी संपूर्णता और समग्रता में उकेरने का सफल प्रयास कि‍या गया है। किसी भी भाषा में कृष्णचरित को लेकर इतने विशाल और प्रशस्त कैनवस का प्रयोग नहीं किया है। यथार्थ कहा जाए तो 'कृष्ण की आत्मकथा' एक उपनिषदीय कृति है। 'कृष्ण की आत्मकथा श्रृंखला के आठों ग्रंथ' नारद की भविष्यवाणी दुरभिसंधि‍ द्वारका की स्थापना लाक्षागृह खांडव दाह राजसूय यज्ञ संघर्ष प्रलय.

भारत में 'सत्ता-पकड़' राजनीति शुरू से ही हावी रही है। सत्ता में पकड़ को बनाये रखने के लिए विकास पर ध्यान दे पाना गौण हो जाता है। ध्यान के केन्द्र में सत्ता होती है और पूरा प्रयत्न इस सत्ता को बचाये रखने पर होता है। इस सत्ता की सुरक्षा विभिन्न हथियारों के जरिए की जाती है। 'शिक्षा' भी इसका एक प्रमुख हथियार बन जाती है और इस प्रकार प्रारम्भ हो जाती है- शिक्षा की राजनीति। भारत में ज्ञान के अभ्युदय के शुरूआती दौर से ही उपर्युक्त राजनीति के तहत समाज के एक बड़े वर्ग को ज्ञान अर्थात् शिक्षा से वंचित रखने का सुनियोजित प्रयास किया गया। भाषा ने भी इसमें अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार एक बहुसंख्य आबादी को हाशिए पर ढकेल दिया गया।

भारत में शिक्षा के माध्यम से रूप में 'जनभाषा' कभी भी अपना स्थान नहीं बना सकी। भारत में 'ज्ञान' को हमेशा रहस्य के रूप में परोसा गया और भाषा इस रहस्यमयी ज्ञान को छिपाने का हमेशा एक साधन बनी रही। यद्यपि सदियों की प्रताड़ना के बाद स्वतन्त्र होने के पश्चात्, विकास की सुध के वक्त हमें यह रहस्य समझ में आया और हमने 'भाषायी नीतियाँ' बनानी शुरू भी की, किन्तु भाषायी नीतियाँ बनाते समय भी हमारी सदियों की आदत नहीं गयी और हमने 'भाषायी राजनीति' करनी शुरू कर दी।

स्वतन्त्रता के बाद संविधान में भाषा के विकास के लिए कई प्रावधान किये गये। इस प्रयास में मातृभाषा के महत्व को पहचानकर उसके विकास पर खासा जोर दिया गया। अनेक शैक्षिक नीतियों में भी मातृभाषा के विकास हेतु प्रावधान किया गया और शिक्षा में 'त्रिभाषा - सूत्र' को स्वीकार किया गया। फिर भी शिक्षा में आज भी भाषा एक समस्या बनी हुई है। कारण साफ है, शिक्षा में 'भाषा नीति' का या तो सही ढंग से प्रावधान नहीं हुआ था या फिर उसका क्रियान्वयन नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ - यदि 'त्रिभाषा-सूत्र' पर सही ढंग से अमल हुआ होता तो क्या हम उत्तर भारतवासी, दक्षिण भारतीय भाषा न सीख गये होते, जो हमें अबूझ पहेली लगती है। यह शिक्षा में राजनीति का ही तकाजा है कि आज तमिलनाडु जैसे राज्य में एक भी नवोदय विद्यालय नहीं है।

ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

हम शिक्षा में कोठारी आयोग की 'पड़ोसी विद्यालय' (नेवरहुड स्कूल) और 'समान स्कूल व्यवस्था' (कॉमन स्कूल सिस्टम) की संकल्पना को सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार तो कर चुके हैं किन्तु व्यवहार में यह दिख नहीं रहा है। 'पड़ोसी विद्यालय' की संकल्पना शिक्षा में भाषायी मुद्दे का एक समाधान भी था। ज्ञातव्य हो कि बाद की शिक्षा नीतियों में इसे स्वीकारा भी गया है।[2]
भारत में 'शिक्षा' सदैव राजनीति का शिकार रही है। शिक्षा में बाजारीकरण के प्रवेश ने सरकारी स्कूलों की हालत खस्ता कर दी। 'भाषा' यहाँ एक प्रमुख कारण के रूप में उभरी। चूँकि 'हाशिए के लोग' इन सरकारी विद्यालयों से आच्छादित रहे, अतः वे भी इस राजनीति की गिरफ्त में आ गये और भाषा उनके लिए एक चुनौती बनकर उभरी।

विचार-विमर्श

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार - मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। इससे तात्पर्य यह है कि शिक्षा मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह अपने को पूर्णता में अभिव्यक्त कर सके। जब भी मनुष्य अपने को अभिव्यक्त करता है तो इस अभिव्यक्ति में भाषा और संस्कृति आधार का कार्य करती है। मनुष्य अपने मनोभावों को अपनी भाषा में सर्वोत्तम ढंग से अभिव्यक्त करता है। अब यदि अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने में भाषायी बाध्यता खड़ी कर दी जाये तो व्यक्ति भाषाओं में ही अटक कर रह जाता है और उसकी अभिव्यक्ति अपूर्ण रह जाती है। स्पष्ट है कि पूर्णता की अभिव्यक्ति अपनी भाषा अर्थात् मातृभाषा में ही सम्भव है। भाषायी सन्दर्भ में विवेकानन्द का प्रश्न था - विदेशी भाषा में दूसरे के विचारों को रखकर, अपने मस्तिष्क में उन्हें ठूँसकर और विश्वविद्यालयों की कुछ पदवियाँ प्राप्त करके, तुम अपने को शिक्षित समझते हो। क्या यही शिक्षा है ? स्वामी विवेकानन्द के अनुसार आध्यात्मिक सत्यों को जान लेना ही सच्ची शिक्षा है और यह मातृभाषा द्वारा ही सम्भव है।
भारत में उत्तर से लेकर दक्षिण और पूरब ले लेकर पश्चिम तक आरएसएस (संघ), भाजपा एंव अन्य आनुषंगिक संगठनों और कार्पोरेट घरानों का वर्चस्व केवल एक राजनीतिक और आर्थिक परिघटना नहीं है, उससे ज्यादा कहीं गहरे व्यापक स्तर पर यह एक सांस्कृतिक परिघटना भी है, जिसने उस मन:स्थित और चेतना का निर्माण किया, जिसके चलते राष्ट्रवाद के नाम पर देश के हिंदूकरण (ब्राह्मणीकरण) और विकास के नाम पर कार्पोरेटाइजेशन (पूंजी की लूट को खुली छूट) का मार्ग प्रशस्त हुआ।

हमारे देश में ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति तथा पूंजीवादी-साम्राज्यवादी संस्कृति का घिनौना गठजोड़ मुकम्मल शक्ल अख्तियार कर चुका है। हिन्दू फ़ासीवाद और कॉरपोरेट फ़ासीवाद एक दूसरे से गले मिल गए हैं। कॉरपोरेट फासीवाद ने इस देश में अपनी जड़ें गहराई तक धंसाने के लिए ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को गले लगा लिया है। ये दोनों संस्कृतियां भारतीय आदमी के पोर-पोर में प्रवेश करती जा रही हैं, ये हर प्रकार के प्रतिगामी मूल्यों को बढ़ावा देती हैं, हर प्रकार के प्रगतिशील मूल्यों को खत्म करने की कोशिश कर रही हैं। अब तो ये टीवी, इंटरनेट, मोबाइल के माध्यम से घर-घर में प्रवेश कर गयी हैं।[3]

व्यक्ति-व्यक्ति के हाथ में पहुँच गयी हैं, व्यक्ति की सुबह इस बुद्धू बक्से से शुरू होती है जो पूरा दिन रात चलता ही रहता है, आँख भी इन्हें ही देखकर बन्द होती है। ये ऐसे मन-मस्तिष्क-हृदय का निर्माण कर रहे हैं जिससे किसी प्रकार की उदात्तता, महानता, इंसानियत तथा मानवीय ऊँचाई की उम्मीद न की जा सके। दोनों संस्कृतियाँ मिलकर मनुष्य को पिशाच बनाने में लगी हुई हैं। इन दोनों पतनशील संस्कृतियों की नापाक दुरभिसन्धि से इनकी ताकत कई गुना बढ़ गई है। ये हर मानवीय मूल्य को रौंदते हुए आगे बढ़ रही हैं।

ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

भाषा और साहित्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। भाषा साहित्य सृजन का आधार है। साहित्य का उद्देश्य है - स्वयं के सार्थक अन्वेषण में मदद करना, आत्मविश्वास को दृढ़ बनाना और सत्यान्वेषण में सहायता देना। लोगों की अच्छाइयों का उद्‌घाटन करना और बुराइयों का उन्मूलन करना। लोगों के हृदय में हयादारी, गुस्सा और साहस पैदा करना। ऊँचे उद्देश्यों के लिए शक्ति बटोरने में उनकी मदद करना और सौन्दर्य की पवित्र भावना से उनके जीवन को शुभ बनाना। अब यदि यह साहित्य अपनी भाषा के कारण आम जनमानस हेतु अबूझ पहेली बन जाय, तो ऐसे साहित्य के क्या मायने, हमें तो ऐसा लगता है कि ऐसा साहित्य खुद एक प्रकार से 'हाशिए के लोग' तैयार करता है।
स्कूल बच्चों के व्यवस्थित शिक्षा (औपचारिक शिक्षा) देने हेतु स्थापित किये गये हैं। कहने को स्कूल बच्चों में भाषा विकास का प्रक्रम करता है पर भाषा जीवन के सतत् अनुभवों से ही अर्थ ग्रहण करती है। भारतीय स्कूलों में पाठ्य पुस्तकों का ऐसा कठोर नियन्त्रण है कि स्कूल की चहारदीवारी के बाहर स्थित समाज की जीवन्त भाषा कक्षा में प्रवेश नहीं कर पाती। जबकि स्कूल को 'लघु समाज' की संज्ञा प्रदान की जाती है। किन्तु जब 'हाशिए के समाज' का बच्चा इस 'लघु समाज' में प्रवेश करता है तो उसे इस समाज की भाषा विचित्र एवं परायी-सी लगती है। अभी हाल में मध्य प्रदेश के हरदा जिले के आदिवासी बहुत इलाका राजबोरारी में शैक्षिक भ्रमण के समय जब वहाँ के प्राथमिक स्कूलों में कार्यरत शिक्षकों से भाषायी मुद्दे पर बात की तो उन्होंने बताया कि इन बच्चों को पाठ्य पुस्तकों की भाषा विदेशी भाषा जैसी लगती है। आज पाठ्य पुस्तकें स्कूल को उसके बाह्य समाज के सम्पूर्ण परिवेश से काटने का साधन बन गयी है। स्कूली स्तर पर प्रारम्भिक अवस्था में 'ड्राप आउट' का एक बहुत कारण पाठ्यक्रम की भाषायी समस्या भी बनी रही है। निष्कर्षतः यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि विद्यालयों में प्रचलित पाठ्यक्रम की भाषा (स्कूली भाषा) बच्चों को हाशिए पर ढकेलती है।
इन दो संस्कृतियों में पहली ठेठ वैदिक-सनातन संस्कृति है, जिस पर अधिकांश भारतीयों को गर्व है, उसे 'हिन्दू संस्कृति' कहते हैं, उसे सनातन संस्कृति, वैदिक संस्कृति, आर्य संस्कृति तथा द्विज संस्कृति के नाम से भी पुकारा जाता है। इस संस्कृति के गौरव-ग्रन्थ आदि कवि वाल्मीकि के रामायण से लेकर तुलसीदास का रामचरितमानस तक हैं। वेद, पुराण, स्मृतियां, संहितायें इसके पूजनीय ग्रन्थ हैं। वेदों के रचयिता तथाकथित ऋषियों से लेकर स्मृतियों के रचयिता गौतम, मनु, नारद, याज्ञवल्क्य तथा शंकराचार्य इसके महान पूजनीय नायक हैं। जब-जब इस संस्कृति को कोई खतरा पैदा हुआ है, स्वयं ईश्वर ने अवतार लेकर (राम एवं कृष्ण) इसकी रक्षा की है। आधुनिक युग में तिलक, गाँधी तथा इस देश के प्रथम राष्ट्रपति इसके सबसे बड़े रक्षक के रूप में सामने आते रहे हैं। इस संस्कृति की रीढ़ है, वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था तथा जातिवादी पितृ सत्ता, जिसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने चारों वर्णों की रचना की।[4]

खून चूसने वाले परजीवियों (ब्राह्मणों) को अपने मुंह से पैदा किया तथा मेहनतकश शूद्रों को अपने पैर से। पता नहीं स्त्रियों को कहाँ से पैदा किया, यह तो वही जाने या हो सकता है उनके ऋषियों-महात्माओं को पता हो। इस संस्कृति को, इसके असली चरित्र एवं रूप को ढँकने के लिए जाने या अनजाने यूरोपीय नाम 'सामन्ती संस्कृति' भी कुछ लोग कहते रहे हैं। इसको इसके असली नाम से पुकारा जाना चाहिए जो इसके अन्तर्य एवं रूप को ठीक-ठीक प्रकट करता है और वह नाम है मनुवादी-ब्राह्मणवादी संस्कृति।

इस संस्कृति का जन्मजात बुनियादी लक्षण है कि हर व्यक्ति जन्म से ऊँच या नीच पैदा होता है अर्थात् किसी से ऊँच तथा किसी से नीच पैदा होता है। चार वर्णों में सबसे ऊँचा वर्ण है 'ब्राह्मण' तथा सबसे नीचा वर्ण है 'शूद्र'। बाद में एक वर्ण और बना दिया गया, जो महा नीच ठहराकर है 'अन्त्यज' कहा गया तथा जिसकी छाया के स्पर्श से भी अन्य लोग दूषित हो जाते हैं। स्त्री भी नीचों में शामिल की गई। । नीच कहे जाने के चलते जितने पैमाने शूद्रों-अन्त्यजों के लिए थे, उनमें से अधिकांश स्त्रियों पर भी लागू होते हैं।

इस संस्कृति की सबसे पहली बुनियादी विशेषता है- श्रम, विशेषकर शारीरिक श्रम करने वालों से घृणा। कौन-कौन कितना और किस प्रकार का शारीरिक श्रम करता है, उसी से तय हो जायेगा कि वह कितना 'नीच' है। इस विशेषता का दूसरा पहलू यह है- जो व्यक्ति शारीरिक श्रम से जितना ही दूर है अर्थात् जितना बड़ा परजीवी है, वह उतना ही महान एवं श्रेष्ठ है। ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ एवं महान है क्योंकि उसके जिम्मे किसी प्रकार का शारीरिक श्रम नहीं था। मेहतर समुदाय सबसे घृणित क्योंकि वह विष्टा एवं गन्दगी साफ करता है।[5]
विष्टा एवं गन्दगी करने वाले महान तथा साफ करने वाले 'नीच'। दलित 'नीच' क्योंकि वह मेहनत करता था अर्थात् उत्पादन-सम्बन्धी सारे श्रम वही करता था। उत्पादक, नीच और बैठ कर खाने वाले परजीवी, महान। कपड़ा गंदा करने वाले, महान तथा उसे साफ कर देने वाले धोबी, 'नीच'। बाल तथा नाखून काटकर इंसान को इंसानी रूप देने वाला नाऊ 'नीच' तथा जिन्हें उसने इंसान बनाया वे लोग, ऊँच। यही बात सभी श्रम-आधारित पेशों पर लागू होती रही है।

घर में स्त्री-पुरुष से नीच, क्योंकि वह बच्चे से बूढ़ों तक की गुह-गन्दगी साफ करती है। धोबी का भी काम करती है, कपड़े धुलती है, घर की सफाई करती है, खाना बनाती है। जैविक उत्पादन (बच्चे जनती है) करती है, और 'महान' पुरुषों को अन्य सुख प्रदान करती है। इसलिए स्त्री, पुरुषों से नीच तथा उनके अधीन। शूद्र द्विजों से नीच तथा उनके अधीन।

मनुवादी-ब्राह्मणवादी संस्कृति की दूसरी विशेषता है कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के समान नहीं हो सकता अर्थात् समानता की अवधारणा का पूर्ण निषेध। चार वर्णों में सभी एक दूसरे से ऊँच या नीच हैं। चारों वर्णों में शामिल हजारों जातियाँ एक दूसरे से ऊँच-नीच हैं। परिवार में ऊँच-नीच का श्रेणी क्रम बना हुआ है। इस संस्कृति में गर्ग गोत्र के शुक्ल सबसे ऊँचे हैं, लेकिन स्थान-विशेष के शुक्ल दूसरी जगह के शुक्ल से नीच हैं या ऊँच हैं। सबसे निचली कही जाने वाली जातियों में शामिल दलितों (चमारों) में भी उत्तरहा तथा दखिनहा हैं। उत्तरहा दखिनहा से ऊँच हैं। बाभनों में भी नान्ह जाति के रूप में चौबे-उपधिया हैं।

इनका अपराध यह है कि ये अपने खेतों में शारीरिक श्रम करते हैं। असमानता या गैर-बराबरी इसके केन्द्र में है। इस संस्कृति की तीसरी विशेषता है अधीनता। ब्रह्मा ने शूद्रों-अन्त्यजों तथा स्त्रियों को क्रमशः द्विजों (सवर्णों) तथा पुरुषों के अधीन बनाकर भेजा है। शूद्रों-अन्त्यजों तथा स्त्रियों का दैवीय कर्तव्य है कि वे सवर्णों तथा पुरुषों की आज्ञा का पालन करें तथा उनकी सेवा करें । अधीनता की इस व्यवस्था का उल्लंघन करने का अर्थ है- ईश्वरीय विधान का उल्लंघन।

इस संस्कृति की चौथी विशेषता है- अतार्किकता। जन्मजात श्रेष्ठता का कोई तार्किक आधार नहीं है। लेकिन महान से महान वैज्ञानिक, प्रोफेसर, न्यायाधीश, वकील, डॉक्टर, पत्रकार, राजनेता तथा अन्य ज्ञानीजन अपनी जन्मजात जातीय श्रेष्ठता के दम्भ में फूले हर कहीं मौजूद हैं। सोचने का यह तरीका तार्किकता की बुनियाद को ही खोखला कर देता है। अलोकतान्त्रिक सोच इसकी पाँचवीं विशेषता है। जातीय तथा लैंगिक श्रेष्ठता और निकृष्टता की भावना, इस संस्कृति की रीढ़ है। जनवाद तथा लोकतान्त्रिक भावना की अनिवार्य शर्त है- इंसान-इंसान के बीच मनुष्य होने के चलते बराबरी का भाव। बराबरी के इस भाव के बिना जनवादी या लोकतान्त्रिक विचार-भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सरोकारहीनता तथा असंवेदनशीलता इस संस्कृति की छठी विशेषता है।[6]
साधन के रूप में 'शिक्षा' व्यक्ति की इच्छाओं की प्रतिपूर्ति की एक बड़ी आशा होती है। पुरानी वर्ण व्यवस्था में शिक्षा सवर्णों की बपौती थी, नई वर्ण व्यवस्था में वह सवर्ण बनने का साधन बन गयी है। ज्ञात होना चाहिए कि आधुनिक समय में सवर्ण के निर्धारण का आधार केवल जाति नहीं है, बल्कि एक बड़ा आधार व्यक्ति की भाषायी स्थिति भी है। इस प्रकार भाषा समाज को उच्च वर्ण (उच्च वर्ग) और निम्न वर्ण (निम्न वर्ग) में बाँटने का कार्य भी करती है और इस प्रकार भाषायी आधार पर हाशिए के लोगों को तैयार करती है और इस रूप में एक वृहद हाशिए के समाज की उत्पत्ति का कारण बनकर प्रकट हो रही है।

ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

भारतेन्दु हरिशचन्द्र जी की चिरकालिक उक्ति 'निज भाषा उन्नति अहै......' पर यदि विचार करें तो ज्ञात होता है कि मातृभाषा उन्नति का आधार होती है। ज्ञातव्य हो कि उन्नति से तात्पर्य मानव के सम्पूर्ण विकास से है। भाषाजनित बल इसके सांस्कृतिक पक्ष एवं विकास के एक प्रमुख पक्ष के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसीलिए संस्कृति को नष्ट करने के लिए भाषा पर हमला किया जाता है, चूँकि भाषा संस्कृति निर्माण का एक बड़ा आधार होती है। संस्कृति से धर्म की राह निकलती है, धर्म से एकजुटता और फिर एकजुटता से वर्चस्व का प्रभुत्व। इसीलिए मध्यकाल और ब्रिटिशकाल में एकजुटता को खत्म करने के लिए धर्म, संस्कृति और भाषा पर कठोर प्रहार किये गये और भाषायी आधार पर अपनी संस्कृति की ऐसी घुट्टी पिलायी गयी कि भाषायी श्रेष्ठता की मानसिकता से ग्रसित एक नये वर्ग का जन्म हो गया जिसने भाषायी आधार पर लोगों को हाशिए पर ढकेलने का प्रयास किया और यह मानसिकता स्वतन्त्रता के 73 वर्षों बाद भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

परिणाम

ब्रिटिशकाल में अंग्रेजी भाषा के प्रचार-प्रसार हेतु व्यवस्थित प्रयास किया गया। मूल कारण था - 'अंग्रेजी संस्कृति' का प्रचार-प्रसार। जिस तरह शिक्षा महज एक माध्यम नहीं है, उसी तरह अंग्रेजी सिर्फ भाषा नहीं है। वह एक संस्कार, एक मानसिक संरचना है। अंग्रेजी की साधना करने का आशय, अंग्रेजी की मानसिकता को स्वीकार करना है। आज हमें इसी अंग्रेजी मानसिकता पर आधारित 'पब्लिक' स्कूलों के सर्वत्र दर्शन होते हैं, जो मुख्यतः भाषायी आधार पर लोगों को अपनी तरफ खींचकर उनका शोषण करते हैं और इनसे निकलने वाले बच्चों का एक अलग संसार होता है जो 'हाशिए के लोगों' के दुःख-दर्द से सर्वथा विलगित रहते हैं और कभी-कभी तो 'उन्नति के शूल' बन जाते है। ये बच्चे जब भारत के विकास हेतु उच्च पदस्थ होते हैं तो इनकी सोच, मानसिकता और कार्यशैली में अंग्रेजों जैसा व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है।[7]
आज भारत में प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण हेतु 'शिक्षा का अधिकार अधिनियम' को क्रियान्वित किया जा रहा है। जब यहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मनुष्य के रूप में देखने की जगह जाति-विशेष या लिंग-विशेष के रूप देखता है तो गहरी मानवीय संवेदनशीलता की जमीन ही कमजोर पड़ जाती है। एक दूसरे के प्रति इतनी सरोकारहीनता शायद ही किसी समाज में मौजूद हो। इस संस्कृति की सातवीं विशेषता है- जो जितना शारीरिक श्रम करे, उसे उतना ही कम खाने-जीने का साधन प्रदान किया जाए तथा जो जितना ही शारीरिक श्रम से दूर रहे, उसे उतना ही बेहतर भोजन तथा जीवन जीने के अन्य साधन प्रदान किए जाएँ। मेहनत करने वाला उत्पादक भूखा जीने को विवश तथा श्रम से दूर, खून चूसने वाला खा के अघाया हुआ।

वर्ण व्यवस्था-जातिवाद के साथ ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की दूसरी बुनियादी अभिलाक्षणिकता है- जातिवादी पितृसत्ता। इसकी पहली विशेषता है कि पुरुष श्रेष्ठ तथा स्त्री दोयम दर्जे की है। पुरुष-श्रेष्ठता की इस संस्कृति का ही परिणाम है- पुत्र लालसा जिसके चलते हर वर्ष करोड़ों लड़कियों को गर्भ में पहचान कर मार दिया जाता है, इस अपराध के लिए कि उनका लिंग स्त्री का है। यह सर्वव्यापी संस्कृति है। मारने वालों में शिक्षित-अशिक्षित, ब्राह्मण-दलित, शहरी-ग्रामीण तथा पुरुष-स्त्री सभी शामिल हैं। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-सम्पन्न और तथाकथित महान लोग इन हत्यारों में शामिल हैं। यह संस्कृति स्त्री को भोग की वस्तु समझती है। स्त्री तथा स्त्री की योनि इसके सम्मान एवं प्रतिष्ठा की सबसे बड़ी वस्तुएँ हैं।

यह स्त्री को किसी प्रकार का जनवादी या बराबरी का हक देने को तैयार नहीं है। स्त्री क्या पहनेगी, कैसे बोलेगी, कैसे चलेगी, किससे बात करेगी, किससे नहीं बात करेगी और सबसे बड़ा अधिकार किसे अपना जीवन साथी चुनेगी अर्थात् किससे शादी करेगी, यह संस्कृति यह सारा अधिकार पुरुष समाज को प्रदान करती है। उसका पिता, पति, भाई, चाचा या बेटा अर्थात् घर का पुरुष यह तय करेगा कि वह क्या करेगी और क्या नहीं करेगी। यदि वह इसका उल्लंघन करती है, बराबरी के अधिकारों की माँग करती है तो हिंसा की शिकार बनेगी, उसे पीटा जाएगा। यदि वह अपनी मनपसन्द के लड़के से प्रेम करने या शादी

ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

करने की जुर्रत करेगी तो मार डाली जायेगी (ऑनर किलिंग), प्रेम करने से इंकार करेगी तो उसके ऊपर तेजाब फेंका जाएगा या उसकी हत्या कर दी जाएगी। यहाँ तक कि उसे अपने शरीर पर भी हक प्राप्त नहीं।इसमें शिक्षा की गुणवत्ता को बनाये रखने हेतु अनेक प्रावधान किये गये हैं। इसमें 'हाशिए के लोगों' का भी ख्याल रखा गया है तभी उन्हें 'प्राइवेट पब्लिक' स्कूलों में एक चौथाई सीटों पर आरक्षण का अधिकार दिया गया है। इन स्कूलों की भाषा उच्च वर्ग के लोगों की भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। अतः निम्न वर्ग से सम्बन्धित बच्चा ऐसे माहौल में अपना आत्मविश्वास और मानसिक क्रियाशीलता खो बैठता है और अपनी भाषा, संस्कृति और समाज को तुच्छ समझने लगता है और स्वयं भी अपने को तुच्छ समझने लगता है। इस प्रकार उसका विश्वास सर्वथा प्रभावित हो जाता है। यह प्रक्रिया बच्चे को समुद्र में फेंक देने के समान है जहाँ वृहद जल स्रोत में रहते हुए भी वह अपनी पिपासा शान्त नहीं कर पाता है और इस समुद्र (स्कूल) से पलायन करना चाहता है। अंग्रेजी को आज एक वर्ग विशेष अपने वैचारिक खोखलेपन को ढँकने के लिए एक चर्बी के रूप में भी प्रयोग करता है। अपनी वैचारिक शून्यता और संघर्षशील चेतना को वह अंग्रेजी के आवरण से ढँककर एक चमकदार पन्नी वाले पैकेट के रूप में परोसता है जिसकी ओर सभी सामान्यजन आकर्षित हो जाते हैं, ये तो बाद में समझ में आता है कि पैकेट में कूड़ा भरा है।[8]

बाल मनोवैज्ञानिकों ने पुष्टि की है कि भाषा, शिक्षा और मानसिक विकास में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है। मानसिक विकास में चिन्तन, मनन (शिक्षा) का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है और इस चिंतन-मनन के आधार के रूप में भाषा का। शुरूआती दौर में बच्चा चिंतन-मनन अपनी भाषा में करता है। मस्तिष्क की क्रियाओं पर हुए शोध बनाते हैं कि मस्तिष्क का एक भाग केवल मातृभाषा के जरिए सीखने और संवाद करने के लिए प्रतिबद्ध होता है। बाद में मस्तिष्क में एक नया हिस्सा विकसित होता है जो अन्य भाषाओं को सीखने की क्षमता रखता है। स्पष्ट है कि शुरूआती दौर में बच्चे के पठन-पाठन की भाषा मातृभाषा ही होनी चाहिए। शोध यह भी बताते हैं कि यदि शुरूआती दौर में ही बच्चों को मातृभाषा के अलावा अन्य भाषाएँ सिखाने पर जोर दिया जायेगा तो मस्तिष्क का वह भाग जो मातृभाषा के लिए है - में भण्डारित सूचनाएँ नष्ट हो जायेंगी। बात साफ है कि यदि बचपन में मातृभाषा की अवहेलना की जायेगी तो मस्तिष्क की सम्भावना घट जायेगी। शैक्षिक शोध यह भी बताते है कि बच्चे की समझने और अभिव्यक्त करने की क्षमता बचपन में मातृभाषा के जरिए सीखने की क्षमता पर निर्भर है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यदि भारत के वर्तमान शैक्षिक परिदृश्य पर विचार किया जाये तो ज्ञात होता है कि सरकार पूर्व प्राथमिक शिक्षा (जिस अवस्था में भाषा का सर्वाधिक विकास होता है) के प्रति पूर्णतः उदासीन है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र की सर्वाधिक भागीदारी है। निजी क्षेत्र उपर्युक्त शोधों के तथ्यों को झुठलाते हुए सीखने-सिखाने की प्रक्रिया 'विदेशी भाषा' में प्रारम्भ करते है। सरकार सीखने-सिखाने की प्रक्रिया कक्षा एक से स्वीकार करती है (क्योंकि इसके पहले की शिक्षा के लिए तो वह प्रतिबद्ध ही नहीं दिखती) और राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (2006) द्वारा कक्षा एक से ही (अर्थात् शुरूआती दौर से ही) विदेशी भाषा (अंग्रेजी) सीखने पर जोर देना आश्चर्य में डाल देता है। आज भारत के सरकारी स्कूलों में भी कक्षा एक के स्तर पर ही किसी न किसी रूप में कई भाषाएँ सिखायी जानी प्रारम्भ कर दी जाती हैं। इस आधार पर तो हमारे 'पब्लिक स्कूल' पूर्णतः बाल विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि वह पति से शारीरिक सम्बन्ध बनाने से इंकार करती है तो वह उसके साथ जबर्दस्ती शारीरिक सम्बन्ध बना सकता है अर्थात् बलात्कार कर सकता है। भारतीय कानून इसको बलात्कार नहीं मानता। भारत सरकार इस कानून को बदलने के लिए तैयार नहीं है। यह तो घर की हालत है, बाहर दरिंदे कभी भी उसके ऊपर हमला बोल सकते हैं, उसके साथ बलात्कार, सामूहिक बलात्कार कर उसकी हत्या कर सकते हैं।

समाजशास्त्री कहते हैं कि स्त्री के सतीत्व अर्थात् यौन शुचिता की अवधारणा निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के साथ आयी थी अर्थात् यदि निजी सम्पत्ति का मालिक अपने असली वारिस को अपनी सम्पत्ति सौंपना चाहता है तो स्त्री का उसके प्रति पूर्णतया एकनिष्ठ होना अनिवार्य है, वह स्वयं भले ही व्यभिचारी हो। लेकिन भारत में स्त्री की इस काम के अलावा एक दूसरी बड़ी जिम्मेदारी है- जातीय रक्त शुद्धता की रक्षा करना। इसकी अनिवार्य शर्त है- स्त्री अपनी जाति के बाहर के किसी पुरुष से प्रेम न करे, शादी न करे तथा शारीरिक सम्बन्ध न बनाये।[9]

जाति रक्षा तथा योनि रक्षा ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति के दो सबसे बुनियादी मूल्य हैं। डॉ. लोहिया ने कहा था कि हिन्दुओं का दिमाग जाति तथा योनि के कटघरे में क़ैद है। इस समाज का दिमाग तब तक मुक्त नहीं हो सकता है, जब तक इस कटघरे को तोड़ न दिया जाए। वेद, पुराण, संहिताएँ तथा स्मृतियाँ ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति, जाति एवं जातिवादी पितृसत्ता की महानता का एक स्वर से गुणगान करती हैं। कौटिल्य, वेदव्यास, वाल्मीकि, गौतम, नारद, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, शंकराचार्य इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। आधुनिक युग के तथाकथित महानायक इस पर गर्व करते हैं। राष्ट्रपिता तथा महात्मा गाँधी सारतः तथा मूलतः इसे जायज ठहराते हैं। स्वतन्त्र देश के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जाति तथा पितृसत्ता के तोड़ने की कानूनी कोशिश, अन्तर्जातीय विवाह तथा माता-पिता की अनुमति के बिना बालिग लड़के-लड़कियों को मनमर्जी से शादी करने का कानूनी अधिकार (हिन्दू कोड बिल के माध्यम से) देने को भारतीय संस्कृति तथा पवित्र परिवार-व्यवस्था को नष्ट करने का प्रयास मानते थे।

क्या ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की जातिवाद तथा पितृसत्ता-सम्बन्धी विशिष्टतायें अतीत की वस्तु बन गयी हैं? उसका उत्तर है बिल्कुल नहीं। कोई भी व्यक्ति जो व्यापक भारतीय जीवन-यथार्थ को देखता और समझता है वह बिना किसी सन्देह के कह सकता है कि भारतीय समाज का बहुलांश सार रूप में इन्हीं दो मूल्यों से बुनियादी तौर पर संचालित होता है। जाति और पितृसत्ता हिन्दू समाज का बुनियादी व्यावहारिक सच है। हाँ, इसमें पूंजीवादी पतनशील शक्ति भी घुसपैठ कर गयी है। इसमें मात्रात्मक तथा रूपगत परिवर्तन आए हैं लेकिन इससे सार पर गुणात्मक फर्क नहीं पड़ा है। साम्राज्यवादी पतनशील संस्कृति ने इसके सार एवं रूप को और विकृत और घिनौना बना दिया है। इसका मनुष्य-विरोधी रूप और ज्यादा घृणित एवं वीभत्स हो गया है।

जाति और जातिवादी पितृसत्ता ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की जन्मजात बुनियादी विशेषता रही है। कालक्रम में इसमें एक और मनुष्य-विरोधी घृणित विचार एवं मूल्य जुड़ गया है जिसका आन्तरिक तत्व है- साम्प्रदायिक वैमनस्य, साम्प्रदायिक घृणा का विचार एवं मूल्य। मुसलमानों-ईसाइयों के खिलाफ नफरत, घृणा एवं वैमनस्य आज ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति का सबसे ऊपर दिखने वाला तत्व बन गया है। इन दोनों के खिलाफ घृणा, नफरत एवं दंगे के माध्यम से यह संस्कृति हिन्दू एकता के नाम पर अपने जातिवादी-पितृसत्तावादी घृणित मनुष्य विरोधी मूल्यों को ढंकना चाहती है। जबकि ये दोनों इसकी रीढ़ हैं।

डॉ. आंबेडकर ने बिल्कुल ठीक कहा था कि जाति व्यवस्था के खात्मे के साथ ही हिन्दू धर्म का भी खात्मा हो जायेगा, क्योंकि वही इसका प्राण-तत्व है। मुसलमानों तथा ईसाईयों के प्रति घृणा, विशेषकर मुसलमानों के प्रति घृणा के पीछे धार्मिक विद्वेष के साथ ही दो अन्य तत्व काम करते हैं। पहला अधिकांश मुसलमानों का इस्लाम धर्म-ग्रहण करने से पहले वर्ण-व्यवस्था में शूद्र या अन्त्यज होना, दूसरा अधिकांश मुसलमानों का गरीब होना अर्थात् शारीरिक श्रम करना। दूसरे शब्दों में कहे तो मुसलमानों के प्रति घृणा के पीछे धार्मिक विद्वेष के साथ ही, जातीय तथा वर्गीय घृणा भी छिपी हुई है। हिन्दू संस्कृति में मुसलमानों के प्रति घृणा कितनी गहरी है इसका प्रमाण गुजरात नरसंहार में मिला। जहाँ खुलेआम भीड़ के बीच एक माँ बनने वाली स्त्री के साथ बलात्कार किया गया, उसका पेट फाड़ा गया।

हिन्दू वादियों का स्त्री-विरोधी घिनौना चेहरा मुजफ्फरनगर दंगों में सामने आया जब गाँव के ही लोग जिन्हें कल तक मुस्लिम स्त्रियाँ अपना चाचा, ताऊ, भाई, बेटा कहकर पुकारती थीं, उनके साथ सामूहिक बलात्कार करने में इन ताऊओं, चाचाओं, बेटों, भाईयों को कोई शर्म नहीं आयी। शर्म की जगह गर्व की अनुभूति हुई। वे आज भी गर्व से फूले घूम रहे हैं, कई तो सांसद बन गये।[10]

निष्कर्ष

उक्त सन्दर्भ में यदि 'हाशिए के लोगों' पर विचार किया जाय तो समस्या बड़ी गम्भीर लगती है। एक तो उनकी मातृभाषा, सामान्य भाषा (क्षेत्रीय भाषा /राजभाषा) से ज्यादा भिन्न होती है दूसरे उनकी मातृभाषा में पठन-पाठन सामग्रियों का सर्वथा अभाव होता है। भारत एक भाषायी विविधता सम्पन्न राष्ट्र है जिसके फलस्वरूप 'त्रिभाषा-सूत्र' भी इस समस्या को सुलझा पाने में बौना सिद्ध हो गया। पठन-पाठन सामग्रियों का बच्चों की मातृभाषा में उपलब्ध न होना शुरू से ही बच्चों में शिक्षा के प्रति अरूचि उत्पन्न करता है। हाशिए के बच्चों की यह समस्या राष्ट्र के समक्ष एक गम्भीर चुनौती बनी हुई है जिसके समाधान के लिए नीति निर्धारकों ने बातें तो बहुत की हैं, पर काम कम।

भारत के राज्यों की शिक्षक चयन नीतियों में भी उपर्युक्त शोध के तथ्यों को झूठलाने का प्रयास दिखता है। प्राथमिक स्तर पर बच्चों के लिए उसकी मातृभाषायी पृष्ठभूमि का अध्यापक अधिक उपयुक्त रहेगा। शायद इसीलिए बेसिक शिक्षा हेतु जिला स्तरीय प्रबन्धन किया गया है। किन्तु एक आश्चर्ययुक्त हास्यास्पद स्थिति जब उभरकर सामने आती है जब खुद हमारे एक प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, में सन् 2000 और इसके बाद की प्रायः सभी प्राथमिक शिक्षा हेतु की गयी भर्तियाँ राज्य स्तर पर सम्पन्न हुई हैं और इसके परिणामस्वरूप नियुक्त अध्यापक काफी दूर के जिलों में अपनी सेवाएँ दे रहे है जो स्थानीय भाषा और उसके बोध से पूर्ण विलग हैं। विद्वतजन क्या सोचते हैं और राज्य इन्हें किस प्रकार नियंत्रण करता है, इसमें भी अनोखा विरोधाभास हैं। हम सबको मालूम है कि अकेले उत्तर-प्रदेश में ही हिन्दी के कितने विविध स्थानीय स्वरूप उपलब्ध होते है। क्या ये अध्यापक बच्चों की मातृभाषा में पाठन कार्य सम्पन्न कर पाते होंगे?

वैश्वीकरण के इस युग में भाषाओं की भी अपनी स्थिति है। जिस प्रकार समाज में जातियों आदि की अपनी उच्च तथा निम्न स्थिति है, उसी प्रकार भाषाओं की भी वैश्विक समाज में अपनी उच्च एवं निम्न अवस्थाएं हैं। आज वैश्विक विकास के प्रायः सभी उपागम कुछ खास भाषाओं में ही उपलब्ध हैं। अतः जो मनुष्य या समाज इन भाषाओं से जुड़ाव नहीं रखते हैं वह वैश्विक विकास के लाभों से स्वतः ही वंचित हो जाते हैं और हाशिए पर ढकेल दिये जाते हैं। इस प्रकार हाशिए के लोगों हेतु भाषा खासी उत्तरदायी होती है और इसीलिए भाषाओं का अपना खासा महत्व भी है। आज वैश्विक रूप से कुछ खास भाषाएँ स्वीकृत हैं और अपना वैश्विक वर्चस्व बनाये हुए है।

भाषा व्यक्ति को समाज में सम्मानीय स्थान प्रदान करती है। सम्मानित भाषा, सम्मानित स्थान। वैश्विक भाषा, वैश्विक स्थान। यद्यपि आज के पूँजीवादी युग में व्यक्ति, समाज, देश का स्थान मुख्यतः पूँजी के आधार पर निर्धारित होता है, किन्तु इस पूँजी निर्माण का आधार होता है - ज्ञान और भाषा। स्पष्ट है, व्यक्ति को समाज या देश में अपना स्थान बनाने में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यही नहीं आज वैश्विक पहचान बनाने में भी किसी देश के लिए भाषा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। ये हैं ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति के तीन तत्व। इस संस्कृति का मुकम्मल गठजोड़ विश्वव्यापी पूँजी की संस्कृति से हो गया है। इस विश्वव्यापी पूँजी की संस्कृति को साम्राज्यवादी संस्कृति भी कहते हैं। इसकी सबसे पहली विशेषता है- हर चीज को माल में तब्दील कर देना अर्थात् खरीदने-बेचने की वस्तु बना देना। दुनिया एक बाजार है, हर आदमी एक विक्रेता या क्रेता है, हर चीज बिकाऊ माल है, ईश्वर बिकाऊ हैं, मूल्य बिकाऊ है, विचार बिकाऊ हैं, साहित्य-संस्कृति बिकाऊ हैं, साहित्यकर्मी-रचनाकर्मी बिकाऊ हैं, कला बिकाऊ है, कलाकार बिकाऊ हैं, न्यायालय बिकाऊ है, न्यायाधीश बिकाऊ हैं, राष्ट्र बिकाऊ है, राष्ट्र के नेता बिकाऊ हैं, बुद्धि बिकाऊ है, बुद्धिजीवी बिकाऊ हैं, अभिनय बिकाऊ है, अभिनेता-अभिनेत्री बिकाऊ हैं, निर्देशक बिकाऊ हैं, न केवल निर्जीव वस्तुएँ बिकाऊ हैं बल्कि सजीव इंसान बिकाऊ है, श्रम बिकाऊ है, श्रमिक बिकाऊ हैं, इस संस्कृति के लिए ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे बेचने लायक न बनाया जा सके, जिसे बेचा ना जा सके, जिसे खरीदा न जा सके।

यहाँ सौन्दर्य का बाजार लगता है, आप बाजार से हुस्न खरीद सकते हैं, इश्क खरीद सकते हैं, इसे बेच भी सकते हैं। जो खरीदने-बेचने से इंकार कर देता है, उसे दुनिया में रहने का कोई हक नहीं है, उसे जीने का कोई हक नहीं है। वह यदि खरीदने-बेचने या बिकने का विरोध करता है तो उसे सभ्यता-विरोधी घोषित कर दिया जाता है, उसे विकास-विरोधी घोषित कर दिया जाता है,

उसके ऊपर देशद्रोही, नक्सली या माओवादी आतंकवादी का लेबल लगाकर जेल में डाल दिया दिया जाता है या हत्या कर दी जाती है। इस संस्कृति के लिए हर वह इंसान देशद्रोही, मानव द्रोही है, सभ्यता-विरोधी तथा विकास-विरोधी है जो खरीदने-बेचने तथा बिकने की इस संस्कृति का विरोध करता है। इस संस्कृति की दूसरी विशेषता है- आदमी के भीतर की बुनियादी आदिम-मूल प्रवृत्तियों को ऐसी दिशा देना जिससे वह एक ऐसे जानवर या नर पिशाच में तब्दील हो जाए जिसे इंसान-विरोधी कोई कुकृत्य करने में थोड़ी भी हिचक न हो।

यह संस्कृति मनुष्य की बुनियादी मूल प्रवृत्तियों को उभारकर उसे शैतानी दिशा देती है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में सबसे प्रबल प्रवृत्ति यौन-इच्छा या काम-भावना है। मनुष्यता के लम्बे समय के इतिहास में स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम जैसी उदात्त प्रवृत्ति का विकास इसी से हुआ। साम्राज्यवादी संस्कृति अपनी फिल्मों, टीवी-चैनलों, पोर्नोग्राफी तथा विज्ञापनों के माध्यम से यौन-इच्छा को प्रेम से अलग कर देता है। इसे इस तरह उभारती है कि यह काम पिपासु शैतान की इच्छा में बदल जाए। यह काम पिपासु शैतानों की रचना करती है, जिन्हें नन्हीं-सी बच्ची से लेकर दादी माँ सरीखी स्त्री से भी बलात्कार करने में जरा-सी हिचक नहीं होती। यह संस्कृति स्त्री के प्राकृतिक सौन्दर्य तथा आकर्षण को माल बनाकर वस्तुएँ बेचने के लिए इस्तेमाल करती है। अपने विज्ञापनों में यह स्त्री को एक ऐसे माल में तब्दील में कर देती है, जो यौन-इच्छा जगाने की जीती-जागती गुड़िया हो।[10]

जूता बेचना हो तो, गाड़ी बेचना हो तो, मकान बेचना हो तो, कपड़े बेचने हो तो, सबसे पहले विज्ञापन में एक स्त्री आती है, वह यौन पिपासा जगाती है, फिर कहती है कि यदि इस यौन पिपासा को शान्त करना चाहते हो तो इस वस्तु को खरीद लो। स्वयं स्त्री को विज्ञापनों में ऐसे पेश किया जाता है, ऐसे बताया जाता है कि तुम जितनी अधिक यौन-इच्छा को जगा सकती हो, उतनी ही तुम्हारी उपयोगिता है, नहीं तो तुम व्यर्थ और बेकार हो, तुम्हारा कोई मूल्य नहीं है। इस संस्कृति के लिए स्त्री यौन-इच्छा को जगाने वाली वस्तु है। इस संस्कृति की तीसरी विशेषता है- लोभ-लालच अथवा फायदे की संस्कृति। यह बाजारू संस्कृति इन मूल्यों और विचारों को लोगों के बीच कूट-कूट कर भरने की कोशिश करती है कि कुछ भी करो, कुछ भी सोचो तो सबसे पहले यह सोचो कि तुम्हारा क्या फायदा है? कुछ भी ऐसा न करो जिसमें तुम्हारा फायदा न हो। हर कार्यवाही-गतिशीलता का प्रेरणास्रोत लोभ-लालच होना चाहिए। व्यक्तिगत लोभ-लालच के इतर कुछ भी सोचना, करना मूर्खता और बेवकूफी के अलावा कुछ भी नहीं है।

भाषायी स्थिति या भाषायी भेदभाव के कई कारण है, जैसे - उपनिवेशी विरासत, भाषा के प्रति नकारात्मक प्रत्यक्षीकरण, भाषायी विकास की स्थिति, राष्ट्रीय एकता, आधुनिकता और आर्थिक विकास, भूमण्डलीकरण, दोषपूर्ण भाषायी योजना। भारत सदियों तक उपनिवेश रहा है। औपनिवेशिक प्रवृत्ति का प्रभाव भारत की भाषा पर भी पड़ा है। भारत में भाषायी भेदभाव की सदियों पुरानी परम्परा रही है। भारत में प्राचीन समय से ही साहित्य, सत्ता और आम जनमानस की भाषा अलग-अलग रही है। शायद यही कारण रहा है कि आमजन हेतु (हाशिए के लोग) साहित्य (शिक्षा) और सत्ता (जन भागीदारी) सदैव ही दूर की कौड़ी रही है। भारत में औपनिवेशिक काल में उपनिवेशियों ने सत्ता पर अपनी पकड़ बनाये रखने हेतु भाषा को हथियार के रूप में प्रयोग किया। किसी भी व्यक्ति, समाज या देश को अपनी सोच के दायरे में लाने का एक उपाय है - इनका सांस्कृतिक विच्छेदन। साहित्य (भाषा) पर आक्रमण करके यह कार्य आसानी से किया जा सकता है। भारत में मुस्लिम और अंग्रेजी शासकों ने दीर्घकाल तक यही कार्य किया। मुगलकाल में सत्ता में भागीदारी हेतु जहाँ अरबी, फारसी का ज्ञान आवश्यक था वहीं ब्रिटिश काल में भी ऊँचे ओहदों पर आसीन होने हेतु 'अंग्रेजी भाषा ज्ञान' एवं 'वेशभूषा' अनिवार्य थी। जहाँ मुस्लिम शासकों ने आततायी तरीकों से भारत में ज्ञान-विज्ञान और सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करने की कोशिश की वहीं ब्रिटिश शासकों ने लोगों को मानसिक अंग्रेज बनाने का पूर्व नियोजित प्रयोग किया। लार्ड मैकाले (1835) का भारत में नई प्रकार की शिक्षा की नींव डालने के पीछे का मकसद ही था - "पढ़े-लिखे अंग्रेज तैयार करना - जो शरीर और रंग-रूप से भले भारतीय हों परन्तु सोच में अंग्रेज हों।" यही नहीं मैकाले ने भारतीय भाषा एवं संस्कृति पर 'अणु-बम' गिराते हुए यहाँ तक कह दिया था कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य तो सम्पूर्ण अंग्रेजी साहित्य के पुस्तकालय की एक अलमारी की एक रैक के बराबर भी

नहीं है। यह है किसी भी देश की भाषा के प्रति नकारात्मक रवैया जो उस देश को सम्पूर्णता में प्रभावित करता है। यही कारण है कि एक युग की भाषायी पराधीनता आज प्रबुद्ध नागरिकों का भाषायी मोह जाल बन गया है जो उन्हें उच्च, सुसंस्कृत श्रेणी में स्थापित करता है।
भाषा आत्मीयता का अजस्र स्रोत प्रवाहित करती है। जब लोगों में आत्मिक एकता (भावात्मक एकता) होगी तो लोग राष्ट्रीय स्तर पर एकीकृत होंगे। इसी महत्व को समझते हुए डॉ. सम्पूर्णानन्द ने भारत में राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने हेतु भावात्मक एकता पर जोर दिया था। एक प्राचीन मान्यता है कि एक भाषा एकीकृत करती है जबकि बहुभाषा वर्गीकृत करती है। शायद भारत को बाँटने में या एकीकृत होने से रोकने में भी बहुभाषा का एक बड़ा योगदान रहा है। इसीलिए महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता के पश्चात् एक भाषा - राजकीय भाषा हिन्दी, के सर्वस्वीकृत होने पर जोर दिया था। शायद यहाँ पर यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि भारत में सुसम्पन्न बहुभाषावाद ने भी लोगों को भाषायी हाशिए पर पहुँचा दिया है।
पूंजी की संस्कृति का एक रूप है उपभोक्तावादी संस्कृति। एक ऐसी संस्कृति जिसमें मनुष्यों को ऐसी वस्तुएँ खरीदने के लिए विवश एवं प्रेरित कर दिया जाता है, जिसकी उसे कोई आवश्यकता नहीं है। इसी खरीद-बिक्री के आधार पर इसकी अर्थव्यवस्था चलती है। उपभोक्तावादी संस्कृति मनुष्य को एक हवसी इंसान में तब्दील कर देती है, जो खरीदने की हवस का शिकार हो जाता है। खरीदना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। वह कोई भी कुकर्म करके, कोई भी समझौता करके, कोई मूल्य छोड़कर चीजों को खरीद लेना चाहता है, उसे खरीदने में ही जीवन का सुख दिखाई देता है। एक चीज खरीदता है, कुछ समय बीता नहीं कि दूसरी चीज खरीदने के लिए लपक पड़ता है। लोभ-लालच आधारित यह उपभोक्तावादी संस्कृति मनुष्य को आत्मकेन्द्रित बनाती चली जाती है। स्वार्थपरता उसके व्यक्तित्व से अपने वीभत्स एवं घृणित रूप में टपकती रहती है। उसे देखकर घिन और उबकाई आती है।

आत्मकेन्द्रित इंसान अपने रूप-रंग-आकार-प्रकार में इंसान तो दिखता है लेकिन पशु से भी गया गुजरा होता है, क्योंकि जानवर के स्वार्थ की प्रकृति ने सीमायें बना दी हैं। वह पेट भर जाने पर खाना इकट्ठा नहीं करता, लालच-लोभ जानवरों में नहीं होता, जानवर हवस के शिकार भी नहीं होते। यह संस्कृति मनुष्य का अमानवीकरण करती है। मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' में कहा है कि जब निर्जीव वस्तु (पूँजी) सजीवों (मनुष्यों) की संचालक बन जाती है तो यह नित निरन्तर तीव्र गति से मनुष्यों का अमानवीकरण करती है। अमानवीकरण की इस प्रक्रिया की गति तथा ताकत पूँजी की गति तथा ताकत पर निर्भर करती है। आज पूँजी ने अबाध गति से पूरे विश्व में अपना प्रसार कर लिया है। उसका शैतानी खूनी पंजा दुनिया को अपनी गिरफ़्त में लेता जा रहा है।

वह सभी मानवीय मूल्यों को नष्ट कर रहा है, सभी मानवीय समबन्धों को लेन-देन के सम्बन्धों (विनिमय के सम्बन्धों) में तेजी से तब्दील कर रहा है। हर इंसानी मूल्य पूँजी के मार्ग का अवरोध होता है। पूँजी अपने विस्तार तथा प्रभुत्व के लिए हर मानवीय मूल्य तथा सम्बन्धों की कब्र खोदती है। वह इतनी विकराल तथा खून की प्यासी हो चुकी है कि वह पूरी धरती को निगल जाने पर उतारू है। पूँजी के विस्तार तथा मुनाफे के लिए प्रकृति का जिस प्रकार दोहन किया जा रहा है उसके चलते धरती का विनाश या धरती का मनुष्यों के न रहने लायक हो जाना कोई सुदूर भविष्य की कल्पना मात्र नहीं है बल्कि निकट भविष्य की वास्तविकता है। यदि प्रकृति-विरोधी, मनुष्य-विरोधी पूँजी की इस संस्कृति की अबाध गति को रोका नहीं गया, जितना जल्दी सम्भव हो पूँजी के अस्तित्व को खत्म नहीं किया गया तो यह विनाश अवश्यम्भावी है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या इन पतनशील संस्कृतियों के गठजोड़ का प्रतिरोध किया जा सकता है, क्या इन्हें आगे बढ़ने से रोका नहीं जा सकता है? इनके विस्तार को सीमित नहीं किया जा सकता? क्या इनका समूल नाश नहीं किया जा सकता? क्या सिर्फ मनुष्यता को केन्द्र में रखने वाली संस्कृति का निर्माण नहीं किया जा सकता? क्या हमारे देश में ऐसी संस्कृति तथा परम्परा नहीं रही है जिसने ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति का प्रतिरोध किया हो? यदि वह रही है तो कौन सी परम्परा है? क्या

ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

दुनिया के पैमाने पर पूँजी की संस्कृति के विरोध की लम्बी परम्परा नहीं रही है? क्या आज बहुलांश लोगों, सच कहें तो पूरी मनुष्य-जाति का हित इसमें नहीं है कि इन दोनों संस्कृतियों का समूल नाश कर दिया जाए? क्या प्रगतिशील परम्परा के संस्कृतिकर्मियों-संगठनों-संस्थाओं से कुछ जाने-अनजाने ऐसी भूलें नहीं हुई हैं जिनसे इन प्रतिगामी संस्कृतियों को फलने-फूलने-विकसित होने तथा राष्ट्र के जीवन पर छा जाने का मौका मिला?

क्या हमें उन भूलों-गलतियों को स्वीकार करके आगे नहीं बढ़ना चाहिए? क्या हमसे दोस्तों-दुश्मनों की सटीक पहचान करने में कुछ भूल-गलतियाँ नहीं हुई हैं? इन प्रतिगामी संस्कृतियों के प्रतिरोध की रणनीति क्या होगी, कौन-सी शक्तियाँ इसमें हमारा साथ देंगी, कौन-सी शक्तियाँ हमारे खिलाफ खड़ी होंगी, हमें इसकी भी जाँच-पड़ताल करनी होगी। साथ ही आज जो भी प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहे हैं, उनकी पहचान नये सिरे से करने की आवश्यकता है। हमें ठहरकर अपनी कमजोरियों तथा सामर्थ्य का मूल्यांकन करना चाहिए। हमें इन प्रश्नों का सही-सही उत्तर ढूंढना ही होगा। इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढने की अतीत तथा वर्तमान की तमाम कोशिशों को जानना-समझना होगा, जो हमारे काम का है, उन्हें आत्म सात करना होगा।

आज आधुनिकता को विकास का पर्याय माना जाता है। वास्तव में आज के भूमण्डलीकरण के दौर में आधुनिकता के मायने भी बदल गये हैं। आज आधुनिकता केवल वैचारिक तन्त्र तक ही नहीं रह गयी है बल्कि यह सम्पूर्ण सामाजिक संस्कृति में द्रष्टव्य हो रही है। इस आधुनिकता ने भी भाषायी विकास को काफी हद तक प्रभावित किया है। आज यह हाल है कि वही भाषा सर्वमान्य है जो हमें आधुनिक बना सके। इस आधुनिक बनने की फिराक में भाषा का भी स्वयं आधुनिकीकरण हो गया है। आज भाषा और आधुनिकता एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। अब भाषा के स्तरीकरण हेतु आधुनिकता एक पैमाना बन गयी है। 'आधुनिक भाषा' भाषायी स्तरीकरण के सर्वोच्च शिखर पर काबिज़ है और इस 'आधुनिक भाषा' को अपनाने वाले लोग सामाजिक स्तरीकरण के उच्च पायदान पर स्थापित हैं। अतः निचले स्तर पर रहने वाले लोग (हाशिए के लोग) भाषायी उपेक्षा के शिकार हैं। इस प्रकार आधुनिकता आज भाषायी विकास में बाधक बन गयी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिकता आज हाशिए के लोगों के लिए एक चुनौती बन गयी है।
आज आधुनिकता के चक्कर में लोग अपनी मौलिक भाषा से पलायन कर रहे हैं। वे विकास के लिए तथाकथित 'आधुनिक भाषा' को अपना रहे हैं। सरकार भी इस मानसिकता से ऊपर नहीं उठ पायी है। सरकार भी 'आधुनिक भाषा' को ही अपनाने पर जोर देती रहती है और 'शेष भाषाओं' के प्रति उपेक्षित रवैया अपनाती रहती है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से 'शेष भाषा-भाषी' लोगों (हाशिए के लोगों) के प्रति भी उपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार हाशिए के लोग अपने को ठगा हुआ महसूस करते हैं और समाज तथा राष्ट्र के प्रति उदासीन हो जाते हैं।
आज 'भाषायी मानसिकता' का समाज में जबर्दस्त दोहन भी हो रहा है। भाषायी आधार पर लोग आधुनिक बनने के चक्कर में शोषण का शिकार हो रहे है। 'विकास की आँधी' में विकास हेतु उचित भाषा के चयन के चक्कर में लोग अपनी मौलिकता को खो रहे हैं। गैर भाषा लोगों की सीखने की क्षमता को नकारात्मक ढंग से प्रभावित कर रही है। यह सीखना कभी भी अवबोध की सीमा पार करके सम्पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाता है। शायद यही कारण है कि हाशिए के लोगों की समझ भी हाशिए पर चली जाती है। एक ओर हमारा देश प्रगति के अनेक सोपानों को उत्कृष्ट ढंग से विजित करके, वंचनाओं एवं वर्जनाओं से मुक्त होकर, आगामी सदी की स्वर्णिम कहानी गढ़ रहा है, वहीं दूसरी ओर भाषायी हाशिए पर खड़ी विशाल आबादी सम्पूर्ण वाङ्मय का स्याह स्वरूप प्रकट कर रही है। इसे समय रहते बन्धन मुक्त करने की आवश्यकता है, विद्यालय-परिवार-समाज को इस भाषायी एकीकरण में पिरोने की अनिवार्यता है तभी भाषायी प्रकटीकरण में दलित, दुर्बल, उपेक्षित, वंचित, परित्यक्त जैसे वर्गों का और समूहों का समावेशन होकर वृहद 'भारतीय भाषायी समूह' के एकात्म स्वरूप की संरचना हो सकेगी और हम स्वप्रेरित होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से पूर्व 'राष्ट्रीय भाषा कुटुम्बकम्' की स्थापना कर सकेंगे। सबसे पहले मैं ठेठ भारतीय संस्कृति, ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को लेता हूँ जितना पुराना इस

IJMRSETM

ISSN: 2395-7639

International Journal of Multidisciplinary Research in Science, Engineering, Technology & Management (IJMRSETM)

(A Monthly, Peer Reviewed Online Journal)

Visit: www.ijmrsetm.com

Volume 7, Issue 1, January 2020

प्रतिगामी संस्कृति का इतिहास है उतना ही पुराना इसके प्रतिरोध का भी इतिहास है। वर्ण-व्यवस्था आधारित पितृसत्तात्मक संस्कृति के जन्म के साथ ही वर्ण-व्यवस्था विरोधी श्रमण-लोकायत संस्कृति का भी जन्म हुआ। श्रमण संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा, राजे-महाराजे से लेकर सामान्य जनों तक ने इसे स्वीकार किया। प्राचीन काल में इसके महानायक के रूप में गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी तथा चार्वाक सामने आये। श्रमण संस्कृति ने ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को चुनौती दिया, पराजित भी किया। भले ही इतिहास के लम्बे दौर के बाद उसे पराजय का सामना करना पड़ा। फिर भी प्रतिरोध की यह परम्परा उठ खड़ी हुई, सिद्धों-नाथों के माध्यम से आगे बढ़ी है। इस परम्परा ने तथाकथित निम्न जातियों (मेहनतकश जातियों) के सन्तों- कबीर, रैदास के नेतृत्व में भक्ति आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया तथा पुनः सामन्तवादी संस्कृति को, ऊँच-नीच की ब्राह्मणवादी-संस्कृति को चुनौती देते हुए आम जन पर गहरा प्रभाव डाला।

भारी संख्या में लोग इन सन्तों के अनुयायी बने। ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति लड़खड़ाने लगी, उसने अपने को थोड़ा उदार तथा थोड़ा मानवीय बनाकर पेश करने की कोशिश किया। तुलसीदास इस नयी ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति के संरक्षक के रूप में सामने आए। वे रामचरितमानस में शम्बूक का वध नहीं कराते, वे सीता को निर्वासित नहीं कराते हैं, वे राम के प्रति पूर्ण समर्पित शबरी-निषाद की रचना करते हैं। सीता को राम की पूर्ण अनुगामिनी के रूप में पेश करते हैं, जहाँ सीता का अपना व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। इस तरह तुलसीदास ब्राह्मणवाद-मनुवाद को पुनर्जीवन देते हैं। फिर एक बार ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की जीत होती है। फिर आता है आधुनिक काल।

एक बार फिर ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति को ज्योतिबा राव फुले, शाहूजी महाराज, पेरियार तथा भीमराव आंबेडकर निर्णायक चुनौती देते हैं। इसके रक्षक के रूप में तिलक, महात्मा गाँधी, राजेन्द्र प्रसाद सामने आते हैं। पुनः एक बार फिर ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कृति की कुछ सुधारों के साथ जीत होती है। फुले, पेरियार, आंबेडकर के अनुयायी इस संस्कृति को चुनौती देते हैं, लेकिन 1990 तक आते-आते राजनीतिक रूप में संगठित इनके अधिकांश नेता तथा पार्टियाँ ब्राह्मणवाद-मनुवाद के सामने आत्मसमर्पण कर दिया, हाँ साहित्य-संस्कृति तथा बौद्धिक-कर्म में रत इस धारा के अनेक संगठन, विचारक व चिंतक ब्राह्मणवाद-मनुवाद को छोटे स्तर पर ही सही, धीमे स्वर में ही सही, चुनौती दे रहे हैं।

वामपन्थी संस्कृति अपने जन्म के साथ ही सामन्ती संस्कृति का प्रतिरोध करती रही है लेकिन भारतीय सामन्ती संस्कृति को उसके सटीक अन्तर्य तथा रूप के साथ इसने बहुत बाद में पहचाना है। अब इस घेरे का भी एक हिस्सा ठेठ भारतीय प्रतिगामी संस्कृति को ब्राह्मणवादी-मनुवादी, द्विज संस्कृति कहता है, इसे अपने सांस्कृतिक हमले का निशाना बनाता है तथा अपनी प्रगतिशील सांस्कृतिक परम्परा को बुद्ध-सिद्ध-नाथ-कबीर-रैदास-फुले-पेरियार तथा बाबा साहब अंबेडकर के साथ जोड़ता है। कबीर कला मंच जैसे अनेक सांस्कृतिक संगठन इस दिशा में कार्य कर रहे हैं।

आदिवासी क्षेत्रों में लाखों स्त्रियाँ तथा पुरुष प्रगतिशील सांस्कृतिक संगठनों के नेतृत्व में मनुष्योचित जनवादी संस्कृति को जमीन पर उतार रहे हैं तथा हर प्रकार की प्रतिगामी संस्कृति को चुनौती दे रहे हैं। इस सबके बावजूद भी प्रगतिशील संगठनों के एक बड़े हिस्से को बुद्ध-कबीर-फुले-पेरियार तथा अंबेडकर को अपनी प्रगतिशील परम्परा में शामिल करने में हिचक है, संकोच है। कई बार तो नफरत तथा दुराग्रह भी दिखाई पड़ता है। इस स्थिति को तोड़े बिना हम भारत की ठेठ प्रतिगामी-पतनशील संस्कृति का मुकाबला नहीं कर सकते हैं।

प्रतिगामी साम्राज्यवादी संस्कृति अर्थात् पूँजी की संस्कृति के प्रतिरोध की भी लम्बी विश्वव्यापी परम्परा रही है। हमारे देश में भी इसकी एक लम्बी परम्परा रही है। समाजवाद की सामयिक पराजय तथा हमारी भूल-गलतियों से इस परम्परा को धक्का लगा तथा यह कमजोर पड़ी। यह अभी बिखराव, निराशा, नाउम्मीदी के दौर से गुजर रही है। हमारे देश के कई इलाकों में जनता

वैकल्पिक मानवीय संस्कृति के निर्माण में लगी हुई है। हमें अपनी भूल-गलतियों को स्वीकार करते हुए, अपनी सामयिक पराजय से पूर्णतः मुक्त होकर अपनी शक्ति समेटनी होगी।

हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि ब्राह्मणवादी-मनुवादी तथा साम्राज्यवादी-पूँजीवादी, इन दोनों प्रतिगामी संस्कृतियों ने आपस में मुकम्मल गठजोड़ कर लिया है या यूँ कहें कि ये आपस में पूर्णतया घुल-मिल गयी हैं, लेकिन हमारे देश में दो प्रगतिशील संस्कृति- ब्राह्मणवाद-मनुवाद विरोधी संस्कृति तथा साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी संस्कृति की धाराएँ काफी अलग-अलग हैं। कबीर कला मंच जैसे सांस्कृतिक संगठन इन दोनों धाराओं का मेल कराने वाले संगठनों के रूप में सामने आए, लेकिन यह परिघटना व्यापक सांस्कृतिक कर्म का हिस्सा नहीं बन पायी । हम दोनों के दुश्मन एक हो गये हैं। हम अलग-अलग रहकर दुश्मन की ताकत को बढ़ा रहे हैं तथा चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने अपनी ताकत को कमजोर कर रहे हैं।

इन दोनों प्रगतिशील संस्कृतियों के मेल के बिना प्रतिगामी संस्कृतियों के गठजोड़ को चुनौती नहीं दी जा सकती है, उनका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता है, उनका समूल नाश नहीं किया जा सकता है। प्रतिरोध की रणनीति की पहली जरूरत है- दोनों प्रगतिशील सांस्कृतिक धाराओं का मेल।

प्रतिगामी संस्कृतियों का गठजोड़ अपनी लाख विकरालता तथा पैशाचिक चरित्र के बावजूद भीतर से अत्यन्त कमजोर है क्योंकि वह मनुष्य विरोधी है। देश की बहुलांश आबादी मेहनतकश लोगों की है जो इन दोनों संस्कृतियों के जुए तले पिस रहे हैं। इन मेहनतकशों की वस्तुगत स्थिति इन संस्कृतियों के खिलाफ है, भले ही ये विचार, संस्कारवश इनके पक्ष में दिखाई पड़ते हों। हम देश के बहुलांश मेहनतकशों पर भरोसा करके उनके बीच प्रगतिशील संस्कृति को स्थापित करके प्रतिगामी संस्कृतियों के नापाक गठजोड़ का प्रतिरोध कर सकते हैं और अन्ततोगत्वा उनका समूल नाश कर सकते हैं। ज़रूरत है अपने लोगों से सघन रिश्ता जोड़ने की ताकि वे हमें अपना समझ सकें और हम उन्हें सही अर्थों में अपना कह सकें।[11]

संदर्भ

1. रमेश उपाध्याय एवं संज्ञा उपाध्याय: सृजनशीलता, शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
2. एन.सी.ई.आर.टी., प्राथमिक शाला शिक्षक के लिए मनोविज्ञान, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 1993
3. अक्षय कुमार, शिक्षा की मुक्ति; ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
4. कृष्ण कुमार, शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
5. कृष्ण कुमार, राज, समाज और बच्चे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
6. सुषमा गुलाटी, सर्जनात्मकता के लिए शिक्षा, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 2009
7. रमेश दवे, मैं इस तरह नहीं पढ़ँगी, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
8. जगमोहन सिंह राजपूत, शैक्षिक परिवर्तन का यथार्थ, विद्या विहार प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
9. प्रेमपाल शर्मा, पढ़ने का आनन्द, सामयिक बुक्स प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
10. अनिल सद्गोपाल, शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
11. स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, प्रकाशन विभाग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1948